इष्टोपदेश

अनुक्रमणिका

01) मंगलाचरण
02) आत्मा को स्वयं ही स्वरूप की उपलब्धि कैसे?
03) अव्रत से व्रत धारण श्रेष्ठ
04) व्रत से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति
05) स्वर्ग सुख का वर्णन
06) इन्द्रिय सुख-दुःख कल्पना जन्य
07) मोह ही अज्ञान
08) मोही जीव की पहचान
09) संसार का स्वरूप
10) दूसरों को दुखी करने से स्वयं दुःख की प्राप्ति
11) अज्ञान से राग-द्वेष द्वारा संसार परिभ्रमण
12) संसार में दुःख
13) संसार में सुख की कल्पना व्यर्थ
14) मोही जीव आने वाली विपत्तियों को भी नहीं देखता
15) मोही धन को काल (प्राण) से भी अधिक चाहता है
16) धन-कमाने की इच्छा - मोह
17) भोग-उपभोग दुःख के कारण
18) शरीर दुःख का कारण
19) शरीर के उपकार में आत्मा का अपकार
20) ध्यान से सभी इष्ट की प्राप्ति
21) आत्मा का स्वरूप
22) मन और इन्द्रियों को वश में कर ध्यान करें
23) वैयावृत्ति की प्रेरणा
24) ध्यान द्वारा कर्मों की निर्जरा
25) आत्मा में आत्मा द्वारा आत्मा का ध्यान
26) ममत्व भाव बंध का करण, अत: हेय
27) भेद-ज्ञान की प्रेरणा
28) देह के सम्बन्ध को दुःख का करण जानकर छोडो
29) देह से भिन्नता
30) भोगों की इच्छा व्यर्थ
31) जीव मोह को आसानी से क्यों नहीं छोड़ता
32) अपनी भलाई में लगाने की प्रेरणा
33) स्व-पर के भेद को जानना - मोक्ष का कारण
34) अपना गुरु आप ही है
35) पर ज्ञान का कारण नहीं, निमित्त-मात्र होता है
36) एकान्त में क्षोभ-रहित होकर आत्मा में स्थित रहने का उपदेश
37) आत्मानुभवी के लक्षण
38) आत्मा में रत रहने वाले को विषय भोग अरुचिकर
39) योगी के लिए समस्त संसार एक इंद्रजाल
40) योगी एकान्त-प्रिय होता है
41) आत्म-स्वरूप में स्थिर के सभी व्यवहार गौण
42) योगी विकल्पातीत होता है
43) पर के संस्कार के त्याग का उपदेश
44) पर पदार्थों से अस्संग ध्यान से निर्जरा
45) अपने आपके लिए ही उद्यम का उपदेश
46) अज्ञानी को कर्म नहीं छोड़ते

47) आत्म-ध्यान से सुख की प्राप्ति
48) ध्यान का फल
49) मुमुक्षुओं को सम्यग्ज्ञान की भावना का उपदेश
50) जीव-पुद्गल भिन्नता ही सारभूत
51) उपसंहार और टीकाकार द्वारा प्रशस्ति

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-भगवत्पूज्यपाद-आचार्य-प्रणीत

श्री

इष्टोपदेश

मूल संस्कृत गाथा

आभार : पंडित आशाधरजी

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासितितीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-इष्टोपदेश नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-पूज्यपाद-देव विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र इष्टोपदेश नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीपूज्यपाददेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

(देव वंदना)

सुध्यान में लवलीन हो जब, घातिया चारों हने ।
सर्वज्ञ बोध विरागता को, पा लिया तब आपने ॥
उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निज सम कर लिये ।
रविज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये ॥

(शास्त्र वंदना)

स्याद्वाद, नय, षट् द्रव्य, गुण, पर्याय और प्रमाण का ।
जड़कर्म चेतन बंध का, अरु कर्म के अवसान का ॥

कहकर स्वरूप यथार्थ जग का, जो किया उपकार है ।
उसके लिये जिनवाणी माँ को, वंदना शत बार है ॥
(गुरु वंदना)
नि:संग हैं जो वायुसम, निर्लेप हैं आकाश से ।
निज आत्म में ही विहरते, जीवन न पर की आस से ॥
जिनके निकट सिंहादि पशु भी, भूल जाते क्रूरता ।
उन दिव्य गुरुओं की अहो! कैसी अलौकिक शूरता ॥

मंगलाचरण

यस्य स्वयं स्वाभावाप्ति, रभावे कृत्स्नकर्मण:
तस्मै संज्ञान-रूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥1॥
स्वयं कर्म सब नाश करि, प्रगटायो निजभाव
परमातम सर्वज्ञ को, वंदो करि शुभ भाव ॥१॥
अन्वयार्थ : जिनको सम्पूर्ण कर्मों के अभाव होने पर स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति हो गई है, उस सम्यग्ज्ञानरूप परमात्मा को नमस्कार हो ।

आत्मा को स्वयं ही स्वरूप की उपलब्धि कैसे?

योग्योपादानयोगेन, दृषद: स्वर्णता मता
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥2॥
स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय
सुद्रव्यादि चारों मिलें, आप शुद्धता थाय ॥२॥
अन्वयार्थ : योग्य उपादान कारण के संयोग से जैसे पाषाण-विशेष स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि रूप सामग्री के मिलने पर जीव भी चैतन्य-स्वरूप आत्मा हो जाता है ।

अव्रत से व्रत धारण श्रेष्ठ

वरं व्रतै: पदं दैवं, नाव्रतैर्वत नारकम्
छायातपस्थयो र्भेद: प्रतिपालयतोर्महान् ॥3॥
मित्र राह देखते खड़े, इक छाया एक धूप
व्रतपालन से देवपद, अव्रत दुर्गति कूप ॥३॥
अन्वयार्थ : व्रतों के द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक-पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है । जैसे छाया और धूप में बैठनेवालों में अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण व पालन करनेवालों में फर्क पाया जाता है ।

व्रत से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति

यत्र भाव: शिवं दत्ते, द्यौ: कियद्दूरवर्तिनी
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ॥4॥
आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर
दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख दूर ॥४॥
अन्वयार्थ : आत्मा में लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देने में समर्थ आत्म-परिणाम के लिये स्वर्ग कितना दूर है ?

स्वर्ग सुख का वर्णन

हृषीकज -मनातङ्कं दीर्घ - कालोपलालितम्
नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव ॥5॥
इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्घकाल तक भोग्य
स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनही के योग्य ॥५॥

अन्वयार्थ : स्वर्ग में निवास करनेवाले जीवों को स्वर्ग में वैसा ही सुख होता है, जैसा कि स्वर्ग में रहनेवालों (देवों) को हुआ करता है, अर्थात् स्वर्ग में रहनेवाले देवों का ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है कि उस सरीखा अन्य सुख बतलाना कठिन ही है । वह सुख इन्द्रियों से पैदा होनेवाला आतंक से रहित और दीर्घ-काल तक बना रहनेवाला होता है ।

इन्द्रिय सुख-दुःख कल्पना जन्य

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दु:खं च देहिनाम्
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥6॥
विषयों को सुख दु:ख मानते, है अज्ञान प्रसाद
भोग रोगवत् कष्ट में, तन मत करत विषाद ॥६॥

अन्वयार्थ : देहधारियों को जो सुख और दु:ख होता है, वह केवल कल्पना जन्य ही है । देखो ! जिन्हें लोक में सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपत्ति के समय में रोगों की तरह प्राणियों को आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं । यही बात सांसारिक प्राणियों के सुख-दु:ख के सम्बन्ध में है ।

मोह ही अज्ञान

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि
मत्त: पुमान् पदार्थानां यथा मदन-कोद्रवै: ॥7॥
मोहकर्म के उदय से, वस्तुस्वभाव न पात
मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत लखात ॥७॥

अन्वयार्थ : मोह से ढंका हुआ ज्ञान, वास्तविक स्वरूप को वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करनेवाले कोद्रव (कोदों) के खाने से नशैल-बेखबर हुआ आदमी पदार्थों को ठीक-ठीक रूप में नहीं जान पाता है ।

मोही जीव की पहचान

वपुर्गृहं धनं दारा:, पुत्रा मित्राणि शत्रव:
सर्वथान्यस्वभावानि, मूढ: स्वानि प्रपद्यते ॥8॥
पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ
बिल्कुल निज से भिन्न हैं, मानत मूढ़ निजार्थ ॥८॥

अन्वयार्थ : यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभाव को लिये हुए पर-अन्य हैं परंतु मूढ प्राणी मोहनीय-कर्म के जाल में फँसकर इन्हें आत्मा के समान मानता है ।

संसार का स्वरूप

दिग्देशेभ्य: खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥9॥
दिशा देश से आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त

प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उड़न्त ॥९॥

अन्वयार्थ : देखो, भिन्न-भिन्न दिशाओं व देशों से उड़ उड़कर आते हुए पक्षिगण वृक्षों पर आकर रैनबसेरा करते हैं और सबेरा होने पर अपने अपने कार्य के वश से जुदा-जुदा दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं ।

दूसरों को दुखी करने से स्वयं दुःख की प्राप्ति

विराधक: कथं हन्त्रे जनाय परिकुप्यति

त्र्यड्.गुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥10॥

अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध

दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अबोध ॥१०॥

अन्वयार्थ : जिसने पहिले दूसरे को सताया या तकलीफ पहुँचाई है, ऐसा पुरूष उस सताये गये और वर्तमान में अपने को मारनेवाले के प्रति क्यों गुस्सा करता है ? यह कुछ जँचता नहीं । अरे ? जो त्र्यंगुल को पैरों से गिराता वह दंडे के द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा ।

अज्ञान से राग-द्वेष द्वारा संसार परिभ्रमण

रागद्वेषद्वयीदीर्घ - नेत्राकर्षण- कर्मणा

अज्ञानात्सुचिरं जीव:, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥11॥

मथत दूध डोरीनितें, दंड फिरत बहु बार

राग द्वेष अज्ञान से, जीव भ्रमत संसार ॥११॥

अन्वयार्थ : यह जीव अज्ञान से रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियों की खींचातानी से संसाररूपी समुद्र में बहुत काल तक घूमता रहता है- परिवर्तन करता रहता है ।

संसार में दुःख

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते

यावत्तावद्भवन्त्यन्या: प्रचुरा विपद: पुर: ॥12॥

जबतक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय

पदिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय ॥१२॥

अन्वयार्थ : जबतक संसाररूपी पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र में एक पटली सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है कि उसी समय दूसरी दूसरी बहुत सी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती हैं ।

संसार में सुख की कल्पना व्यर्थ

दुरर्ज्येनासुरक्षेणनश्वरेणधनादिना ।

स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥13॥

कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि

इनसे सुख को कल्पना, जिमि घृत से ज्वर व्याधि ॥१३॥

अन्वयार्थ : जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घी को खाकर या चिपड़ कर अपने को स्वस्थ मानने लग जाय, उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे धन आदिकों से अपने को सुखी मानने लग जाता है ।

मोही जीव आने वाली विपत्तियों को भी नहीं देखता

विपत्तिमात्मनो मूढ:, परेषामिव नेक्षते

दह्यमान-मृगाकीर्णवनान्तर - तरुस्थवत् ॥14॥
पर की विपदा देखता, अपनी देखे नाहिं
जलते पशु जा वन विषैं, जड़ तरूपर ठहराहिं ॥१४॥
अन्वयार्थ : जिसमें अनेकों हिरण दवानल की ज्वाला से जल रहे हैं, ऐसे जंगल के मध्य में वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आनेवाली विपत्तियों का ख्याल नहीं करता है ।

मोही धन को काल (प्राण) से भी अधिक चाहता है

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष-, हेतुं कालस्य निर्गमम्
वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम् ॥15॥
आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान
चाहत हैं धनवान धन, प्राणनितें अधिकान ॥१५॥
अन्वयार्थ : काल का व्यतीत होना, आयु के क्षय का कारण है और कालान्तर के जैसे ब्याज के बढ़ने का कारण है, ऐसे काल के व्यतीत होने को जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवन से धन ज्यादा इष्ट है ।

धन-कमाने की इच्छा - मोह

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्त: सञ्चिनोति य:
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति ॥16॥
पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय
स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़ से लिम्पेय ॥१६॥
अन्वयार्थ : जो निर्धन, पुण्य-प्राप्ति होगी इसलिये दान करने के लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूँगा' ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है ।

भोग-उपभोग दुःख के कारण

आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं क: सेवते सुधी: ॥17॥
भोगार्जन दु:खद् महा, भोजन तृष्णा बाढ़
अंत त्यजत गुरू कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ़ ॥१७॥
अन्वयार्थ : आरंभ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करनेवाले तथा अंत में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान् / समझदार ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा ?

शरीर दुःख का कारण

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि
स कायः सन्ततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥18॥
शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जाँय
विघ्न करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय ॥१८॥
अन्वयार्थ : जिसके सम्बन्ध को पाकर -- जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा अपायों, उपद्रवों, झंझटों, विघ्नों एवं विनाशों सहित हैं, अत: भोगोपभोगों को चाहना व्यर्थ है ।

शरीर के उपकार में आत्मा का अपकार

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम् ॥19॥
आतम हित जो करत है, सो तनको अपकार
जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार ॥१९॥
अन्वयार्थ : जो जीव (आत्मा) का उपकार करनेवाले होते हैं, वे शरीर का अपकार (बुरा) करनेवाले होते हैं । जो चीजें शरीर का हित या उपकार करनेवाली होती हैं, वही चीजें आत्मा का अहित करनेवाली होती हैं ।

ध्यान से सभी इष्ट की प्राप्ति

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इत: पिण्याकखण्डकम्
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिन: ॥20॥
इत चिंतामणि है महत्, उत खल टूक असार
ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार ॥२०॥
अन्वयार्थ : इसी ध्यान से दिव्य चिंतामणि मिल सकता है, इसी से खली के टुकड़े भी मिल सकते हैं । जब कि ध्यान के द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदरबुद्धि करेंगे ?

आत्मा का स्वरूप

स्वसंवेदन सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्यय:
अत्यन्तसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकन: ॥21॥
निज अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान
लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान ॥२१॥
अन्वयार्थ : आत्मा लोक और अलोक को देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनंत सुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेनदन से तथा कहे हुए गुणों से योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभव में आया हुआ है ।

मन और इन्द्रियों को वश में कर ध्यान करें

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतस:
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥22॥
मन को कर एकाग्र, सब इंद्रिय-विषय मिटाय
आतमज्ञानी आत्म में, निज को निज से ध्याय
अन्वयार्थ : मन की एकाग्रता से इन्द्रियों को वश में कर ध्वस्त-नष्ट कर दी है स्वच्छन्द वृत्ति जिसने ऐसा पुरूष अपने में ही स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे ।

वैयावृत्ति की प्रेरणा

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रय:
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वच: ॥23॥
अज्ञ-भक्ति अज्ञान को, ज्ञान-भक्ति दे ज्ञान
लोकोक्ती जो जो धरे, करे सो ताको दान ॥२३॥
अन्वयार्थ : अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है, और ज्ञानी पुरूषों की सेवा ज्ञान को देती है । यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरे को कहाँ से देगा ?

ध्यान द्वारा कर्मों की निर्जरा

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी
जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा ॥24॥
परिषहादि अनुभव बिना, आतम-ध्यान प्रताप
शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप ॥२४॥

अन्वयार्थ : आत्मा में आत्मा के चिंतवनरूप ध्यान से परीषहादिक का अनुभव न होने से कर्मों के आगमन को रोकनेवाली कर्म-निर्जरा शीघ्र होती है ।

आत्मा में आत्मा द्वारा आत्मा का ध्यान

कटस्य कर्त्ताहमिति, सम्बन्ध: स्याद् द्वयोर्द्वयो:
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, सम्बन्ध: कीदृशस्तदा ॥25॥
'कट का मैं कर्तार हूँ' यह द्विष्ठ सम्बन्ध
आप हि ध्याता ध्येय जहँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध ॥२५॥

अन्वयार्थ : 'मैं चटाई का बनानेवाला हूँ' इस तरह जुदा-जुदा दो पदार्थों में संबंध हुआ करता है । जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ संबंध कैसा ?

ममत्व भाव बंध का करण, अत: हेय

बध्यते मुच्यते जीव:, सममो निर्मम: क्रमात्
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥26॥
मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय
यातें गाढ़ प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय ॥२६॥

अन्वयार्थ : ममतावाला जीव बँधता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है । इसलिये हर तरह पूरी कोशिश के साथ निर्ममता का ही ख्याल रक्खें ।

भेद-ज्ञान की प्रेरणा

एकोऽहं निर्मम: शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचर:
बाह्या: संयोगजा भावा, मत्त: सर्वेऽपि सर्वथा ॥27॥
मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य
कर्मोदय से भाव सब, मोतें पूर्ण अगम्य ॥२७॥

अन्वयार्थ : मैं एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूँ । संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं, वे मुझसे सर्वथा भिन्न हैं ।

देह के सम्बन्ध को दुःख का करण जानकर छोडो

दु:खसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम्
त्यजाम्येनं तत: सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभि: ॥28॥
प्राणी जा संयोगतें, दु:ख समूह लहात
यातें मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात ॥२८॥

अन्वयार्थ : इस संसार में देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को दु:ख-समूह भोगना पड़ता है - अनंत क्लेश भोगने पड़ते हैं, इसलिये इस

समस्त संबंध को जो कि मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं, मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ ।

देह से भिन्नता

न मे मृत्यु: कुतो भीतिर्न मे व्याधि: कुतो व्यथा
नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ॥29॥
मरण रोग मोमें नहीं, तातें सदा निशंक
बाल तरूण नहिं वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक ॥२९॥
अन्वयार्थ : मेरी मृत्यु नहीं, तब डर किसका ? मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे ? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ । ये सब बातें (दशाएँ) पुद्गल में ही पाई जाती हैं ।

भोगों की इच्छा व्यर्थ

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गला:
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥30॥
सब पुद्गलको मोहसे, भोग भोगकर त्याग
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्ट में राग ॥३०॥
अन्वयार्थ : मोह से मैंने सभी पुद्गलों को बार-बार भोगा, और छोड़ा । भोग भोगकर छोड़ दिया । अब जूठन के लिए (मानिन्द) उन पदार्थों में मेरी क्या चाहना हो सकती है ? अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है ।

जीव मोह को आसानी से क्यों नहीं छोड़ता

कर्म कर्म हिताबन्धि, जीवो जीवहितस्पृह:
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥31॥
कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार
निज प्रभाव बल देखकर, को न स्वार्थ करतार ॥३१॥
अन्वयार्थ : कर्म कर्म का हित चाहते हैं । जीव जीव का हित चाहता है । सो ठीक ही है, अपने-अपने प्रभाव के बढ़ने पर कौन अपने स्वार्थ को नहीं चाहता । अर्थात् सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं ।

अपनी भलाई में लगाने की प्रेरणा

परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव
उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत् ॥32॥
प्रगट अन्य देहादिका, मूढ़ करत उपकार
सज्जनवत् या भूल को, तज कर निज उपकार ॥३२॥
अन्वयार्थ : पर के उपकार करने को छोड़कर अपने उपकार करने में तत्पर हो जाओ । इंद्रियों के द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकों का उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थितिको न जाननेवाले) हो रहे हो । तुम्हें चाहिये कि दुनियाँ की तरह तुम भी अपनी भलाई करने में लगो ।

स्व-पर के भेद को जानना - मोक्ष का कारण

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्ते: स्वपरान्तरम्
जानाति य: स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥33॥
गुरू उपदेश अभ्यास से, निज अनुभव से भेद

निज-पर को जो अनुभवे, लहै स्वसुख बेखेद ॥३३॥

अन्वयार्थ : जो गुरू के उपदेश से अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्व-संवेदन) से अपने और पर के अन्तर को (भेद को) जानता है, वह मोक्ष-संबंधी सुख का अनुभव करता रहता है ।

अपना गुरु आप ही है

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत:

स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन: ॥34॥

आपहि निज हित चाहता, आपहि ज्ञाता होय

आपहि निज हित प्रेरता, निज गुरू आपहि होय ॥३४॥

अन्वयार्थ : जो सत् का कल्याण का वांछक होता है, चाहे हुए हित के उपायों को जतलाता है, तथा हित का प्रवर्तक होता है, वह गुरू कहलाता है । जब आत्मा स्वयं ही अपने में सत् की - कल्याण की यानी मोक्ष-सुख की अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को जतलानेवाला है, तथा मोक्ष-सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है, इसलिये अपना गुरू आप ही है ।

पर ज्ञान का कारण नहीं, निमित्त-मात्र होता है

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति

निमित्तमात्र-मन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥35॥

मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय

निमित्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मतें होय ॥३५॥

अन्वयार्थ : पर के कारण मूर्ख ज्ञानी नहीं हो सकता और ज्ञानी मूर्ख नहीं हो सकता । पर पदार्थ धर्मास्तिकाय के समान निमित्त-मात्र है ।

एकान्त में क्षोभ-रहित होकर आत्मा में स्थित रहने का उपदेश

अभवच्चित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थित:

अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मन: ॥36॥

क्षोभ रहित एकान्तमें, तत्त्वज्ञान चित धाय

सावधान हो संयमी, निज स्वरूप को भाय ॥३६॥

अन्वयार्थ : जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है, जो आत्म-स्वरूप में स्थित हैं, ऐसा योगी सावधानी पूर्वक एकान्त स्थान में अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करे ।

आत्मानुभवी के लक्षण

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्

तथा तथा न रोचन्ते, विषया: सुलभा अपि ॥37॥

जस जस आतम तत्त्वमें, अनुभव आता जाय

तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय ॥३७॥

अन्वयार्थ : ज्यों ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है, त्यों त्यों उस योगी को आसानी से प्राप्त होनेवाले भी शिष्य अच्छे नहीं लगते ।

आत्मा में रत रहने वाले को विषय भोग अरुचिकर

यथा यथा न रोचन्ते, विषया: सुलभा अपि

तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥38॥

जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय
तस तस आतम तत्त्व में, अनुभव बढ़ता जाय ॥३८॥
अन्वयार्थ : ज्यों-ज्यों सहज में भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यों त्यों स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है ।

योगी के लिए समस्त संसार एक इंद्रजाल

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत्
स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥39॥
इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात
अन्य विषय में जात यदि, तो मन में पछतात ॥३९॥
अन्वयार्थ : योगी समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है । आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये अभिलाषा करता है । तथा यदि किसी अन्य विषय में उलझ जाता, या लग जाता है तो पश्चाताप करता है ।

योगी एकान्त-प्रिय होता है

इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादर:
निज कार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥40॥
निर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार
निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस बार ॥४०॥
अन्वयार्थ : निर्जनता को चाहनेवाला योगी एकान्तवास की इच्छा करता है और निज कार्य के वश से कुछ कहे भी तो उसे जल्दी ही भुला देता है ।

आत्म-स्वरूप में स्थिर के सभी व्यवहार गौण

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥41॥
देखत भी नहिं देखते, बोलत बोलत नाहिं
दृढ़ प्रतीत आतममयी, चालत चालत नाहिं ॥४१॥
अन्वयार्थ : जिसने आत्म-स्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है, ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है ।

योगी विकल्पातीत होता है

किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायण: ॥42॥
क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम
तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम ॥४२॥
अन्वयार्थ : ध्यान में लगा हुआ योगी यह क्या है ? कैसा है ? किसका है ? क्यों है ? कहाँ है ? इत्यादिक विकल्पों को न करते हुए अपने शरीर को भी नहीं जानता ।

पर के संस्कार के त्याग का उपदेश

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम्

योो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥43॥
जो जामें बसता रहे, सो तामें रुचि पाय
जो जामें रम जात है, सो ता तज नहिं जाय ॥४३॥
अन्वयार्थ : जो जहाँ निवास करने लग जाता है, वह वहाँ रमने लग जाता है और जो जहाँ लग जाता है, वह वहाँ से फिर हटता नहीं है ।

पर पदार्थों से अस्संग ध्यान से निर्जरा

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते
अज्ञाततद्विशेषस्तु, बध्यते न विमुच्यते ॥44॥
वस्तु विशेष विकल्प को, नहिं करता मतिमान
स्वात्मनिष्ठता से छुटत, नहिं बँधता गुणवान ॥४४॥
अन्वयार्थ : अध्यात्म से दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिक की सुन्दरता असुन्दरता आदि धर्मों की ओर विचार नहीं करता और जब उनके विशेषों को नहीं जानता, तब वह बंध को प्राप्त नहीं होता, किंतु विशेष रूप से छूट जाता है ।

अपने आपके लिए ही उद्यम का उपदेश

पर: परस्ततो दु:खमात्मैवात्मा तत: सुखम्
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमा: ॥45॥
पर पर तातें दु:ख हो, निज निज हो सुखदाय
महापुरूष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय ॥४५॥
अन्वयार्थ : दूसरा दूसरा ही है, इसलिये उससे दु:ख होता है, और आत्मा आत्मा ही है, इसलिये उससे सुख होता है । इसीलिये महात्माओं ने आत्मा के लिये ही उद्यम किया है ।

अज्ञानी को कर्म नहीं छोड़ते

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्
न जातु जन्तो: सामीप्यं,चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥46॥
पुद्गल को निज जानकर, अज्ञानी रमजाय
चहुँगति में ता संग को, पुद्गल नहीं तजाय ॥४६॥
अन्वयार्थ : जो अज्ञानी पुद्गल-द्रव्य में रमता है, उसे पुद्गल अपने साथ चारों गतियों में नहीं छोड़ता हैं ।

आत्म-ध्यान से सुख की प्राप्ति

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहि: स्थिते:
जायते परमानन्द: कश्चिद्योगेन योगिन: ॥47॥
ग्रहण त्याग से शून्य जो, निज आतम लवलीन
योगी को हो ध्यान से, कोइ परमानंद नवीन ॥४७॥
अन्वयार्थ : व्यवहार को छोड़कर आत्मा में स्थित योगी को योग के बल से कोई विचित्र प्रकार का परमानंद प्राप्त होता है ।

ध्यान का फल

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्
न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दु:खेष्वचेतन: ॥48॥
निजानंद नित दहत है, कर्मकाष्ठ अधिकाय

बाह्य दु:ख नहिं वेदता, योगी खेद न पाय ॥४८॥

अन्वयार्थ : जैसे अग्नि, ईन्धन को जला डालता है, उसी तरह आत्मा में पैदा हुआ परमानंद, हमेशा से चले आए प्रचुर कर्मों को अर्थात् कर्म-सन्तति को जला डालता है, और आनंद सहित योगी, बाहरी दु:खों के - परीषह उपसर्ग-संबंधी क्लेशों के अनुभव से रहित हो जाता है । जिससे खेद को (संक्लेश को) प्राप्त नहीं होता ।

मुमुक्षुओं को सम्यग्ज्ञान की भावना का उपदेश

अविद्याभिदुरं ज्योति:, परं ज्ञानमयं महत्

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभि: ॥49॥

पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार

मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥४९॥

अन्वयार्थ : अविद्या को दूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलाषियों) को उसी के विषय में पूछना चाहिये, उसी की बांछा करनी चाहिये और उसे ही अनुभव में लाना चाहिये ।

जीव-पुद्गल भिन्नता ही सारभूत

जीवोऽन्य: पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रह:

यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तर: ॥50॥

जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार

अन्य कछू व्याख्यान जो, याही का विस्तार ॥५०॥

अन्वयार्थ : 'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है' बस इतना ही तत्त्व के कथन का सार है, इसी में सब कुछ आ गया । इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसी का विस्तार है ।

उपसंहार और टीकाकार द्वारा प्रशस्ति

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,

मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ॥

मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा,

मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्य: ॥51॥

इष्टरूप उपदेश को, पढ़े सुबुद्धी भव्य

मान अपमान में साम्यता, निज मन से कर्तव्य ॥

आग्रह छोड़ स्वग्राम में, वा वन में सु वसेय

उपमा रहित स्वमोक्षश्री, निजकर सहजहि लेय ॥५१॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार 'इष्टोपदेश' को भली प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहित की परीक्षा करने में दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञान से मान और अपमान में समता का विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने, ऐसा होकर नगर अथवा वन में विधिपूर्वक रहता हुआ उपमा-रहित मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है ।